# तुम्हें अपना स्कूल कैसा लगा?

रेशमा भारती

यह कहते तो सब हैं कि शिक्षा व्यवस्था के केंद्र में बच्चों को रखा जाए। लेकिन शायद ही कभी पाठ्यक्रम, स्कूल के प्रबंधन, पढ़ाने के तरीकों, शिक्षकों के व्यवहार आदि पर बच्चों से कोई फीड-बैक लिया जाता हो।

लेखिका ने एक संवेदनशील विद्यार्थी के रूप में अपने स्कूली दिनों को पुनः जीते हुए अपने अहसासों-अनुभवों को लिखना शुरू किया और देखते-ही-देखते इसने एक किताब की शक्ल अख्तियार कर ली। इस पुस्तक - स्कूल पास या फेल - का शुरुआती हिस्सा प्रस्तुत है इस लेख में।

प्रायः ऐसा बहुत कम होता है कि किसी बच्चे से यह सवाल किया जाए कि उसे अपना स्कूल कैसा लगा? अधिकतर 'बड़ों की दुनिया' में इसी बात की चिंता ज़्यादा रहती है कि स्कूल को बच्चा कैसा लगा, स्कूल में या सिस्टम में बच्चा कितना फिट रहा, कितना सफल रहा। शायद ही कभी किसी बच्चे से यह पूछा जाता हो कि वह अपने स्कूल को पास करेगा या फेल...।

बच्चे की परीक्षाएं तो सभी लेते हैं, उसे पास-फेल, सफल-असफल तो सभी ठहराते हैं। पर शिक्षा की परीक्षा कौन लेता है, शिक्षा व्यवस्था की सफलता-असफलता की जांच-परख कौन करता है, शिक्षा व्यवस्था के गुण-दोषों का निर्णय कौन लेता है? ज़ाहिर है, इस प्रकार के निर्णयों में बच्चे की सफलता-असफलता के स्तर भले ही ध्यान में रखे जाते हों पर स्वयं बच्चे की इस निर्णय प्रक्रिया में कोई भूमिका नहीं होती।

मैं बचपन, किशोरावस्था और युवावस्था के आरंभ की दहलीज़ को पार कर आज एक ग्रेजुएट युवती हूं। छोटा-मोटा लेखन कार्य करती हूं। मुझे याद है कि कई बार स्कूल, कॉलेज से लौटकर मैं अपने असंख्य अनुभव, अहसास, भावनाएं... कभी खुशी, कभी गुस्सा, कभी उदासी... कड़वे-मीठे अनुभव अपने माता-पिता के सामने व्यक्त करती थी। कभी-कभी कुछ अनुभव-अहसास मन के भीतर छिपाए भी रखती थी। आज, मैं उस औपचारिक शिक्षा व्यवस्था का हिस्सा तो नहीं हूं; पर अपनी स्मृतियों के माध्यम से उससे अभिन्न रूप से जुड़ी हुई हूं। अपने कई अनुभवों पर आज मैं नए सिरे से सोचती-विचारती हूं। रोज़मर्रा के जीवन में, कभी-न-कभी, कहीं-न-कहीं, कुछ ऐसा घट जाता है या दिख-सुन जाता है कि उससे मुझे अनायास ही बचपन या किशोरावस्था का कोई-न-कोई दृश्य याद आ जाता है या कोई पुरानी बात मेरे अंतर्मन में कौंध जाती है।

जब मैं स्कूल-कॉलेज में पढ़ा करती थी, तो उस व्यवस्था के भीतर, किसी ने मुझसे इस किस्म का सवाल नहीं किया कि बताओ, तुम्हें अपना स्कूल या कॉलेज कैसा लगा? यह प्रश्न व्यवस्था के भीतर तो बिल्कुल भी नहीं उठा कि बताओ, तुम इस व्यवस्था को पास करोगी या फेल। पर लीक से कुछ हटकर चलने वाले मेरे परिवार का माहौल इतना खुला अवश्य था कि मैं स्वयं अपने आप से यह प्रश्न कई बार पूछ चुकी हूं। इसका उत्तर मेरी स्मृतियों में छिपा है; जिन्हें मैं टटोलती रहती हूं।

फिर लगा कि शिक्षा की इस औपचारिक व्यवस्था को समाज ने ही तो बनाया है, हम सभी ने तो इसे यह रूप दिया है, हम सभी तो इसके ज़िम्मेवार हैं। तो फिर शिक्षा की यादों को यूं टटोलना, यह उधेड़-बुन...मेरी अकेले की ही क्यों रहे? क्यों न वह समाज भी इसमें शामिल हो, जिसने यह व्यवस्था बनाई है, जिस समाज का मैं एक अभिन्न हिस्सा हूं। इसीलिए अपने स्कूल के (और कुछ कॉलेज के भी) कुछ खट्टे-मीठे अनुभवों को मैंने इस पुस्तक का रूप दिया।

किसी ने नहीं दिया मुझे शिक्षा की इस जांच-पड़ताल का, शिक्षा की इस परीक्षा का हक। मैं स्वयं ही ऐसा करने की जुर्रत कर रही हूं। क्या आप मेरे खट्टे-मीठे अनुभवों के इस सफर में शामिल होंगे? क्या आप इस जांच-परख में मेरा साथ देंगे?

## मुझे ठेस पहुंचती है

मैं संवेदनशील हूं। क्या इसमें मेरा कोई दोष है? मुझे अपने जीवन में कई मौकों पर ऐसा अहसास हुआ है कि मानो मन को गहरी चोट पहुंची हो, धक्का लगा हो। मैं इस अहसास के बारे में भला आपको क्यों बता रही हूं? विशेषकर, जब कभी अपने औपचारिक शिक्षा के दौरान बीते समय का विश्लेषण करती हूं, तो पाती हूं कि कुछ अनुभवों-अहसासों को मनुष्य समाज के समक्ष कई प्रश्नों के रूप में रखना मेरा फर्ज़ है। बीते दिनों की यादों को कुरेदती हुई मैं अपने अनुभवों, अपने विचारों, अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त करना चाहती हूं। क्या मुझे इजाज़त है? क्या मैं कुछ कहूं?

मैं जब प्राइमरी स्कूल में थी, तो मुझे प्रायः तब ठेस पहुंचा करती थी जब होमवर्क न करके लाने या कुछ याद न कर पाने के कारण मेरे सहपाठियों में से कुछ की पिटाई होती थी। कम ही ऐसे मौके रहे जब मेरी पिटाई की नौबत आई। पर लगभग रोज़ाना क्लास में या साथ की कक्षाओं में पिटाई या सज़ा का सिलसिला चलता रहता था। डरी-सहमी कक्षा के सन्नाटे को चीरता हुआ जब एक भारी-सा थप्पड़ किसी सहपाठी के गाल पर पड़ता था; तब मैं अंदर तक सिहर उठती थी, डर जाती थी, दुखी होती थी और कुछ मायूस या गुमसुम-सी हो जाती थी।

मुझे याद है जब किन्हीं एक-दो बच्चों को या फिर पूरी कक्षा को सज़ा मिलती थी तब शर्म और बेचारगी से मेरे गाल गर्म-से हो जाते थे (कुछ बच्चे बताते थे कि मेरे गाल लाल हो जाते थे)। और फिर... उस पूरे दिन के लिए एक बेचैनी का अहसास मेरे मन में बरकरार रहता था।

मुझे इस सबसे ज़्यादा धक्का तब पहुंचता

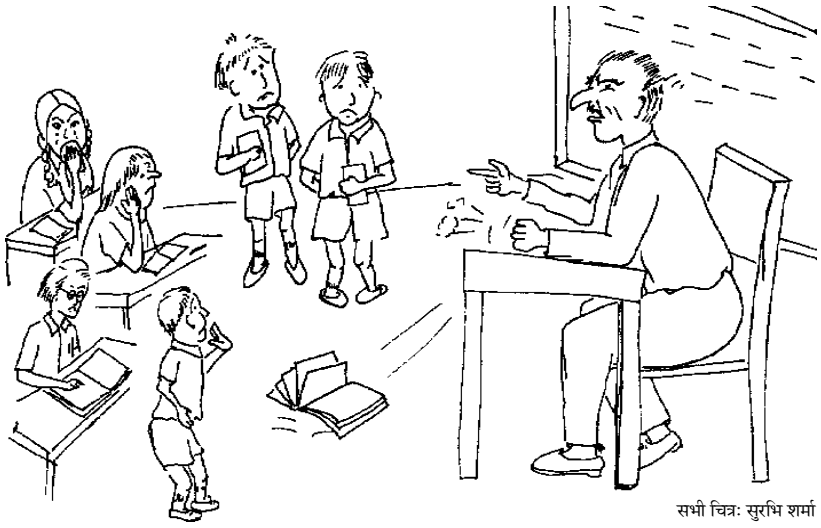

सभी चित्रः सुरभि शर्मा

था जब किसी को सज़ा मिलने, किसी को डांट या मार पड़ने पर कुछ शैतान बच्चे मज़े लेते थे, उस सज़ा पाने वाले की खिल्ली उड़ाते या उसे चिढ़ाते थे। कोई ऐसा कैसे कर सकता है? कुछ समझ नहीं आता था।

मैं डर के कारण और कुछ-कुछ एक ज़िम्मेदारी के अहसास के कारण अपना हर होमवर्क पूरी लगन से पूरा करके ले जाती थी। जब कभी न कर पाती तो मम्मी-पापा से थोड़ा करवाकर भी ले जाती थी या अगर कुछ न हो सके तो अगले दिन कोई न कोई बहाना बनाकर छुट्टी कर लिया करती थी। क्या मेरे उस बहाने के पीछे छिपे 'डर' की असलियत का मेरे मम्मी-पापा को अंदाज़ा लग जाता था? पता नहीं, यह तो वे ही जानें।

## अनुशासन बनाम विकास

मैं अनुशासन की बड़ी पाबंद हुआ करती थी और अपने कुछ अन्य सहपाठियों को भी सदा ऐसा करने की ही सलाह दिया करती थी। ऐसा क्यों था? - अब यह सवाल मेरे मन में ज़रूर उठता है, जबकि मैं यह अच्छी तरह समझ गई हूं कि उनमें से कई अनुशासन के नियम बच्चों के सहज, स्वाभाविक विकास में कितने बड़े बाधक थे। मैं उनका पूरा-पूरा पालन भला क्यों करा करती थी? यह मुझे अच्छी तरह याद है कि मैं ऐसा करके कभी न तो स्वयं खुश होती थी, न ही अपने मित्रों को कोई खुशी दे पाती थी। पर उस वक्त उन नियमों का पूरा-पूरा पालन करके मुझे कुछ संतोष-सा मिलता था। अब सोचती हूं कि कितना छिछला संतोष था वह! मैं ऐसा क्यों करती थी भला? शायद इसके पीछे भी कहीं-न-कहीं डर का भाव रहा होगा। पर शायद इसके पीछे एक भ्रम भी था। भ्रम यह कि टीचर तो सदा स्टुडेंट के भले की ही सोचते हैं, उनके भले की ही करते हैं। यह भ्रम कई बार टूटा और वे मेरे दिल पर पहुंचे कई धक्के थे।

फिर भी इस भ्रम के जाल से निकलने में मुझे अपने भीतर काफी मशक्कत करनी पड़ी। कई बार तो इन धक्कों से मुझे इतना आघात पहुंचा कि मैं अंदर-ही-अंदर विद्रोही हो गई। खुलकर ये विद्रोही भाव प्रकट करने की मेरी हिम्मत न थी। मैं स्वभाव से ही डरपोक थी। पर गुपचुप रूप से साथियों के साथ बातों में, अपने घर के खुले वातावरण में बात करके, अपनी कॉपियों-किताबों पर कुछ टीचरों के उल्टे सीधे चित्र बनाकर, टीचरों की नकल उतारकर आदि कई तरीकों से मैं अपना गुस्सा बाहर निकालती रही।

कुछ टीचरों के दोहरे-मूल्यों या विरोधाभासों से, कुछ का अपने हित-स्वार्थ

डर के कारण किए गए होमवर्क से मैं वास्तव में कुछ भी ग्रहण नहीं कर पाती थी। इसलिए आगे बड़ी कक्षाओं में जाकर मुझे कई बेसिक बातें याद न रह पाने के कारण काफी दिक्कत आई। आज तक मैं इस कमी को महसूस करती हूं। लगता है, फिर प्राइमरी शिक्षा से कई बातें सीखने की ज़रूरत है।

का पहले सोचने व बाद में छात्र-छात्राओं की परवाह करने, बच्चों को मूर्ख बनाकर अपनी ज़िम्मेदारियों से पल्ला झाड़ने के प्रयासों आदि से मैं इतनी आहत महसूस करती थी कि कई बार बेवजह ही ज़रूरत से ज़्यादा शक्की हो जाती थी। खैर, हर नए शिक्षक के बारे में पहले मेरा भ्रम ही मुझे उसे एक आदर्श के रूप में देखने पर मजबूर करता था। फिर धीरे-धीरे भ्रम की घटा मेरे हृदय से छंटती जाती थी। दिमाग व दिल बेहद सक्रियता के साथ विश्लेषण करने लगते थे। पर सब टीचरों के साथ ऐसा अनुभव नहीं होता था। कुछ टीचरों की अच्छी यादें भी हैं मेरे दिल में जो मरहम का सा काम करती हैं। पर दुर्भाग्य से ऐसे अनुभव कम ही हैं। मैं ही नहीं, मेरे कुछ साथी भी ऐसा कहा करते थे कि ''अरे, शुरू-शुरू में सब अच्छे होते हैं, बाद में देखना...।''

## बच्चों की तुलनाएं

मैं सरकारी स्कूलों में ही पढ़ी हूं। मुझे हमेशा से पब्लिक स्कूल के बच्चों और अपने स्कूल के बच्चों के बीच तुलना करने पर ठेस पहुंची है। उनको प्राप्त सुविधाएं, उनका फर्राटेदार अंग्रेज़ी में बात करना... यह सब मुझे स्तंभित किया करता था। कुछ बड़ी हुई, तब यह अंतर मुझे चुभने लगा, आहत करने लगा। आस-पास जो दिखता था, उस पर सोचा तो अमीर, मध्यम व निम्न वर्गों के बीच बंटे हमारे इस असमानतापूर्ण समाज का अंतर मुझे और भी चुभता-कचोटता, हैरान-परेशान करता रहा, मायूस करता रहा। और हैरानी है मुझे कि न जाने कब मैं इस अंतर को देखने, इसको हकीकत मानने, इसमें जीने की आदी हो गई। क्या इसी को सामाजीकरण कहते हैं? मेरे मन में

असमानता को देखकर आज भी बेचैनी होती है, कई तरह के प्रश्न उठते हैं और मुझे कचोटते हैं। हे भगवान ! मैं भी गलतियां करती हूं। इस असमानता को कम करने में मैं भी निष्क्रियता का परिचय देती हूं। न जाने कब मैं इस विषमता को सहज जीवन का एक अंग मान बैठी। पर फिर यह बेचैनी, यह प्रश्नों का उठना...? क्या मैं पूरी तरह इस समाज में रम नहीं पाई? अगर ऐसा हो जाता, तो आज मैं कहीं अधिक शर्मिंदा होती। अगर विषमता, असमानता मुझ में बेचैनी, असंतोष, विद्रोही भाव, खलबली मचा देने वाले प्रश्न या विचार भी खड़े नहीं करते; तो मैं अब की स्थिति से कहीं ज़्यादा गिरी हुई इंसान होती। कम-से-कम इतनी इंसानियत तो मुझ में बची रहे। इस बेचैनी को समाज में कोई सकारात्मक अभिव्यक्ति मिल सके।

**किताबों की दुनिया और .....**

जैसे-जैसे मैं बड़ी होती गई, पढ़ने-लिखने व अध्ययन-मनन में अधिकाधिक रुचि लेने लगी। पर मैं महसूस करती थी कि जो कुछ किताबों की दुनिया में अच्छा बताया जाता है, अच्छे गुण-आदर्श, वे सब व्यवहार में बहुत कम ही नज़र आते थे। समाज में इन गुणों-आदर्शों पर चलने पर आप हंसी या मज़ाक के पात्र बनते हैं या अव्यवहारिक कहलाते हैं।

एक बात और जो मैं बचपन से ही कुछ-कुछ महसूस करती थी, पर जब बड़ी होने लगी तो ज़्यादा गहराई से इसे महसूस किया, सोचा-विचारा। वो यह बात थी कि पढ़ाई में या खेलों में फर्स्ट आने, किसी दूसरे से बेहतर पोज़िशन पाने, दूसरों से आगे निकलने की होड़ या प्रतिस्पर्धा में किसी को पछाड़ने की इच्छा भला हम क्यों करते हैं? बचपन में मैं अपने आपको प्रतिस्पर्धा के अयोग्य समझती थी (क्या इसे हम आत्मविश्वास की कमी कहेंगे?)। पर सच्चाई तो यह है कि प्रतिस्पर्धा और उसमें कुछ कर पाने की ललक के प्रति मैं उदासीन रही। दूसरों से आगे बढ़ने की भावना मुझमें नहीं उठती थी। जब दूसरे इनाम हासिल करते, कोई अच्छी पोज़िशन पाते; तब भी मैं यह नहीं समझ पाती थी कि इस पर मैं कैसे रिएक्ट करूं। सबकी देखा-देखी ऐसे में मैं भी खुशी का इज़हार करती थी; पर सच पूछो तो इन सब बातों पर मैंने कभी दिल की गहराई से किसी को बधाई नहीं दी। दूसरों को खुश होता देख मैं भी खुश होती थी। यह अहसास कि मेरा कोई प्रियजन खुश है, मुझे खुशी देता था। पर हार-जीत की इस सतही खुशी से मैं कुछ अनजान ही बनी रही। स्वयं इस प्रकार की सफलता पाने की ललक भी न जगती थी। अगर कभी मुझे कोई तथाकथित सफलता मिल जाती तो

मेरा स्वयं इंसानियत के गुणों को टूटता देख हालात से समझौता करना, मेरे आस-पास इन गुणों का मखौल उड़ाया जाना, आज के माहौल में इन गुणों की कम होती अहमियत, समाज में रहकर इन गुणों को बचाए रखने में आने वाली कठिनाइयां - यह संपूर्ण प्रक्रिया मेरे लिए धक्के लेकर आती रही।

शायद उसको लेकर जितनी खुशी या उत्साह मेरे कुछ मित्रों को होता था; उतना अपने मन से मैं सहज रूप से व्यक्त नहीं कर पाती थी। मेरे लिए यह अहसास ही एक अजनबी-सा अहसास था। दूसरों से आगे निकलकर, भीड़ में अपने को अलग हटकर दर्शाना, विशेषता संपन्न या विशेष प्रतिभा-युक्त सिद्ध करना अपने को भला इस सबसे कैसा संतोष मिलता है, कैसी खुशी मिलती है? तब मुझे यह समझ नहीं आता था। मैं मासूम बच्ची थी या फिर निरी बुद्धू?

## प्रतियोगिता .... और प्रतियोगिता

मेरे इस सहज-स्वाभाविक व्यक्तित्व पर शंका प्रकट की गई। मुझे 'व्यवहारिक' बनने की ओर धकेला गया। इसमें मेरे टीचरों की काफी भूमिका रही, कुछ मेरे मित्रों-रिश्तेदारों की भूमिका भी रही। मुझे यह बताते हुए गर्व होता है कि इस दिशा की ओर मुझे धकेलने में बहुत कम ही या लगभग न के बराबर ही मेरे माता-पिता की कोई चेष्टा रही। उन्हें सदा से मैं सहज रूप में पसंद रही हूं। मैं अपने काम में पूरी तरह खुद ही मग्न होकर या मिल-जुलकर एक-दूसरे के सहयोग से कुछ करने में खुशी अनुभव करती थी। पर सबसे आगे निकलना, अपने को दूसरों से बेहतर सिद्ध करना या फर्स्ट आने से खुशी हासिल करना मेरे लिए अस्वाभाविक था।

पर मैं बदली। मैं यह भी तो कह सकती हूं कि मुझे बदला गया। पर ईमानदारी से कहें तो यदि व्यक्ति दृढ़-निश्चयी हो, अपनी इज़्ज़त करना जानता हो, तो वह बदलता नहीं है। पर उस अवस्था में शायद तब तक मेरा इतनी गहराई से सोचना-समझना भी विकसित नहीं हुआ था। मेरा तो बस ऐसा सहज ही व्यक्तित्व था। वही 'सहज' लोगों को 'असहज' जान पड़ा।... और मुझे प्रेरित किया गया, मुझसे अपेक्षाएं रखी गईं, मुझे उकसाया गया कि सब में अलग चमको, दूसरों से आगे बढ़ो, कुछ ऐसा कर दिखाओ जो तुम्हें अन्यों से बेहतर सिद्ध करे, अच्छे नंबर लाओ, प्रतिस्पर्धा में आगे निकलो...। मैंने ऐसा किया, दूसरों की अपेक्षाओं को ध्यान में रखकर। मुझे धीरे-धीरे कुछ सफलता मिलने लगी, मैं दूसरों की प्रशंसा का पात्र बनने लगी। और फिर धीरे-धीरे मुझे भी इसमें रस आने लगा। बस फिर क्या था, दिन-रात जुटे रहो और अपना जो स्थान बनाया है उस पर कायम रहो। उस मुखौटे पर तुम्हारा मुख हमेशा फिट रहे - बस इसी प्रयास में लगे रहो, और... और आगे निकलो।

इस सब में मैं, भारती, कहीं खो गई। मेरे व्यक्तित्व के दो पाट हो गए। मैं अपने सहज-स्वाभाविक स्वरूप को भी न छोड़ पाती थी और जिस रूप में कुछ लोग मुझे देखने की अपेक्षाएं रखते थे, उसका मोह भी न छोड़ सकी। इससे मेरा विकास असहज, अस्वाभाविक होने लगा।

मैं अच्छी पोज़िशन पाने का जी-तोड़ प्रयास करती। कई बार मैं सफल रही। पर इस सब में मुझे कोई सच्ची खुशी, कोई संतोष नहीं मिलता था। मैं बेचैन रहती थी। मैं जो पढ़ा करती, उसे सीखने-अपनाने का प्रयास किया करती थी, अपने आस-पास अच्छे जीवन मूल्यों को फलते-फूलते देखना चाहती थी।

मैं जीतती थी और जीतने में बाहरी खुशी अनुभव करना भी सीख गई थी। पर

जो हारा है या जो पिछड़ गया है, उसके लिए मन में टीस-सी रहती थी, प्यार उमड़ता था और सच पूछो तो मुझे वो अपने ज़्यादा नज़दीक जान पड़ता था (यद्यपि बाहरी तौर पर मैं आगे निकल गई होती थी और वह मुझसे दूर रह जाता था)। दरअसल, मैं सुखी नहीं थी। और यह बात मैं उस पिछड़ गए साथी को बताना चाहती थी कि मैं खुश नहीं हूं। कई बार मैंने यह अनुभव किया कि जो प्रतिस्पर्धा में मेरे पीछे रह गया, वह कई मायनों में मुझसे ज़्यादा बेहतर इंसान है। कई बार लगा कि तथाकथित 'पिछड़े हुए' लोगों में शायद मुझसे ज़्यादा इंसानियत शेष है। कुछ की ओर मैं आकर्षित हुई क्योंकि मुझे उनके जीवन में ज़्यादा सुकून नज़र आया। जब कभी मैंने अपने इन अहसासों को अभिव्यक्त करने की चेष्टा की तो मुझे गलत समझा गया। किसी ने इसे मज़ाक समझा, तो किसी ने मेरा घमंड समझा, तो कोई यह सोचने लगा कि यह हमें अपने से आगे नहीं बढ़ने देना चाहती।

बहुत कम ही थे, जो मेरे नज़दीक आए। उन्होंने मेरे अंदर बैठी भारती को देखा, उसे पहचाना। बहुत कम ही मेरी इस व्यथा को समझ पाए। स्कूल-कॉलेज के अनुभवों से मुझे कुल-मिलाकर (कई मधुर स्मृतियों के बावजूद) ऐसा लगा मानो मुझसे मेरा बचपन, मेरी वास्तविक खुशी, मेरी सहज हंसी और मेरी कुछ इंसानियत छीन ली गई हो। यह पूरी प्रक्रिया मेरे लिए धक्कों से परिपूर्ण थी, कुछ धक्कों ने मुझे अस्वस्थ भी कर दिया, मेरे मन को मुरझा दिया, मुझे मायूस कर दिया या फिर कुंठित कर दिया।

मेरे कुछ अपेक्षाकृत अधिक समझदार व कर्तव्यनिष्ठ टीचरों ने भी जब-जब प्रतिस्पर्धा की अंधी-दौड़ को प्रोत्साहित किया, जब उन्होंने परीक्षा-आधारित पढ़ाई को ही प्रेरित किया, तब मुझे ठेस पहुंचती थी।

बड़ी कक्षाओं और कॉलेज में जाकर यह बेचैनी बढ़ती चली गई। यहां मैंने अधिक गहराई से महसूस किया कि परीक्षा, पोज़िशन, नंबरों, स्तरों, प्रसिद्धि, प्रतिष्ठा पर आधारित यह पढ़ाई कितनी सतही है, कितनी व्यर्थ है। विषय की गहरी समझ विकसित करने, उसके बारे में मौलिक ढंग से सोचने-विचारने, नए-नए प्रश्न खड़े कर अपने मन-मस्तिष्क और आस-पास के वातावरण में उनके उत्तर टटोलने, जो पढ़ाया गया उससे सीखने व उसे जीवन में अपनाकर देखने, उसका प्रयोग करके देखने और उसे जीवन में उतारने आदि की कद्र शिक्षा व्यवस्था में बहुत कम या न के बराबर थी। नंबरों, पोज़िशनों, इनामों, जानकारी के रट्टाफिकेशन, परीक्षाओं, परिणामों आदि पर आधारित इस व्यवस्था में इन सबका स्थान कहां था? इन अहसासों से मैं आहत होती थी।

मुझे द्वंद्व में जीना पड़ा। दो पाटों में बंटना पड़ा। मैं विषय की गहरी समझ बनाना चाहती थी, उससे कुछ सीखना चाहती थी, सीखे हुए को अपनाकर देखना चाहती थी, सोचना-विचारना चाहती थी, चिंतन-मनन करना चाहती थी। पर इस सबके लिए यह व्यवस्था कोई विशेष समय न देती थी। और फिर मैं सबकी अपेक्षाओं पर खरी उतरने की इच्छा भी तो रखने लगी थी, अपने 'स्तर' को बरकरार रखना भी तो चाहती थी। इसलिए सबकी तरह

मुझे भी कोर्स ठीक समय पर खत्म करना था, जानकारियां अपने दिमाग में भरनी थीं, काफी कुछ बिना समझे भी रटना था, जो समझा वह भी केवल अच्छे उत्तर बनाने के लिए, प्रश्नों के उत्तर देना समझना था, अच्छे नंबर लाने थे...। साल-दर-साल वही निर्धारित पैटर्न। ऐसे में भला मेरे अंदर की भारती क्यों न ऊब जाती या हताश हो जाती या अधिक सकारात्मक कहूं तो विद्रोही हो जाती।

मैं इस काबिल भी हुई कि अपने को पहचान सकूं और अपनी अच्छाई-बुराई को समझ सकूं। जैसे-जैसे अपने आप को पहचानने का, अपने आप से संघर्ष करने का, अपने गुणों को सुरक्षित रखने का, अवगुणों से लड़ने का सिलसिला आगे बढ़ता है वैसे-वैसे मैं अपने को द्वंद्वों से बाहर निकलता पाती हूं। कभी-कभी मैं व्यवस्था के प्रति विद्रोही-सी हो जाती और यह विद्रोह यत्र-तत्र मेरे व्यंग्यों के रूप में बाहर आता। मैं कभी-कभी घबराकर इस्केपिस्ट (पलायनवादी) भी हुई।

मैं संवेदनशील हूं। मुझे धक्का लगना स्वाभाविक है। आपमें से कई लोग मेरी तरह होंगे। उन्हें भी ऐसे धक्के लगते होंगे। जैसे मैं हिम्मत जुटाकर इन धक्कों की चोट से संभल जाती हूं, फिर से आशा जगाकर अपने अंदर और बाहर को टटोलने लगती हूं; वैसे आपमें से भी कई लोग करते होंगे। फिर मैंने यह सब क्यों लिखा? क्या उद्देश्य है मेरा? मैं सोचती हूं कि मुझे जो धक्के लगते रहे हैं, क्या वे सारे समाज के लिए धक्के नहीं हैं? क्या यह व्यथा इस समाज की व्यथा नहीं है? क्या आप मेरे इस मंथन में शामिल नहीं होंगे?

मैं सिर्फ बेहतर कल के सपने ही नहीं देखती (देखती होती तो अपने अनुभव-अहसास यूं आप तक न पहुंचाती); मैं बेहतर कल के लिए अपने छोटे-से स्तर पर ही एक छोटी-सी लड़ाई भी लड़ना चाहती हूं। अपनी व अपने आस-पास के माहौल की खोई हुई सहजता, गुमी हुई या बदनाम हुई इंसानियत को खोजना चाहती हूं, जीना चाहती हूं, अधिक सार्थक इंसानियत के साथ। अपने अंतर्मन में झांककर उसे टटोलती, अपने वातावरण को टटोलती, अपने माहौल की कृत्रिम व सतही प्रवृत्तियों से संघर्ष करती, निरंतर जूझती...।

अपने इस व्यक्तिगत मंथन को (अपनी ज़िम्मेदारी समझते हुए) एक सामाजिक मंथन बनाना चाहती हूं मैं। कई प्रयास करने होंगे। एक प्रयास यह भी है..... मैं यह लिख रही हूं।

---

**रेशमा भारती:** स्कूली पढ़ाई के बाद दिल्ली विश्व विद्यालय से स्नातक स्तर की पढ़ाई। सामाजिक सरोकार एवं लेखन में रुचि।

**चित्र: सुरभि शर्मा** द्वारा इस पुस्तक में बनाए गए चित्र।

**स्कूल पास या फेल?** प्रकाशक - भारत डोगरा सोशल चेंज पेपर्स, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित। पृष्ठ- 160, मूल्य- 80.00 रुपए।

यह किताब एकलव्य पिटारा में उपलब्ध है। पुस्तक के लिए एकलव्य, भोपाल के पते पर संपर्क कर सकते हैं।